ओ३म्।

हम आर्यसमाजी क्यों बनें?

लेखक—

पं० अ[illegible]विहारीलाल, एम० ए०, बी० एल०

आचार्य-आर्यसमाज, कलकत्ता

प्रकाशक

आर्य-समाज

१९ कार्नवालिस स्ट्रीट

कलकत्ता।

सं० १९९६ विक्रमी

सन् १९३९ ई०

पावन वेद भगवान की आज्ञा—

ओ३म् । इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् । अपघ्नन्तो अराव्णः ।

—ऋ० ९।६३।५

ज्ञान और प्रकाशयुक्त विद्वानगण ईश्वर की प्रतिष्ठा को संसार में बढ़ाते हुए और स्वार्थ और पाप का नाश करते हुए—सारे संसार को आर्य्य (श्रेष्ठा चरणयुक्त) बनावें ।

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ

ओ३म् । आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायता-
माराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽति व्याधी महारथो
जायतां । दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धि
र्योषा जिष्णूरथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य
वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः
कल्पताम् ।   —यजु० २२।२२

इस देश पर हे दीनबन्धो !
हो दया फिर आपकी ,
हो निवासी धान्य धन युत
शान्ति हो त्रयताप की ॥ १ ॥

ब्रह्मवर्चस पूर्ण ब्राह्मण ,
वेद पारग आत्मवान् ,
लोक हित चिन्तन में तत्पर ,
भाव हों उनके महान् ॥ २ ॥

क्षात्र गुण सम्पन्न क्षत्रिय
शूर वीर पराक्रमी ,
दुष्ट का शासन करें
होवें नितान्त परिश्रमी ॥ ३ ॥

हो दुधारी धेनुओं से
पूर्ण भारतवर्ष धाम ,
जिससे सायं समय का
हो अर्थयुत "गोधूलि" नाम ॥४॥

शीघ्रगामी हो तुरग कृषि-
योग्य वृष होवें यहां
नगर नेत्री देवियां कर
दें चकित सारा जहां ॥ ५ ॥

हों युवक निज धुन के पक्के
सभ्यता भरपूर हो
दुर्व्यसन त्यागें सभी
उनसे अविद्या दूर हो ॥ ६ ॥

यज्ञ का पावक सदा सब
गेह को भासित करे,
हों अनामय नारि नर सुख
शांति से जग में फिरें ॥ ७ ॥

मेघ मालाएँ समय पर
बरस क्षिति उर्वर करें
अन्न जल फल फूल मेवों
से उदर सब के भरें ॥ ८ ॥

दुःख सब विधि दूर हो
औ दीनता इसकी टरे,
शौर्य्य से इस देश के
इसके सभी शत्रु डरें ॥ ९ ॥

कामना दिल में 'अवध' के
रात दिन रहती यही
सुधरे अवस्था देश की
हो शान्ति युत सारी मही ॥१०॥

'अवध'

हम आर्य्यसमाजी क्यों बनें ?

आर्य्यसमाज के प्रचार के साथ-साथ लोगों के हृदयों में कतिपय शंकाएँ साधारणतः उठा करती हैं। वे लोग जो आर्य्यसमाज में प्रविष्ट नहीं हुए अतएव आर्य्यसमाज के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में पूरी जानकारी नहीं रखते, बहुधा आर्य्यसमाज के विरुद्ध विविध आपत्तियाँ उठाया करते हैं। इस प्रकार के प्रश्न किया करते हैं कि हम आर्य्यसमाजी क्यों बनें ? आर्य्यसमाज के विरुद्ध सभी आपत्तियों का उत्तर देना तो इस छोटी सी पुस्तक में सम्भव नहीं। उनके उत्तर में तो विविध प्रश्नों को लेकर अलग-अलग ग्रन्थ वर्त्तमान है। इस पुस्तक में तो यही निर्णय करना है कि आर्य्यसमाज के प्रवर्त्तक ऋषि दयानन्द ने अपना कोई नया मत स्थापति नहीं किया है। उन्होंने तो उसी प्राचीन आर्य्य-गौरव की फिर से संस्थापना करने के लिए अपना सारा बल एवं प्राण तक लगाए जिसे भूल कर ऋषियों की यह पुण्यभूमि दीन-हीन और कंगाल बन गई। यहाँ तो यही दिखाना है कि आर्य्यसमाज की छत्रच्छाया में आए बिना किसी का अपना अथवा लोक-कल्याण दुःसाध्य ही नहीं बल्कि असम्भव है। हम यहाँ कई आपत्तियों पर एक-एक करके बिचार करेंगे।

१

हम आर्य्य नहीं हिन्दू हैं

बहुत से लोग कहते हैं यदि आर्य्यसमाज नया नहीं तो हिन्दू नहीं कहला कर आर्य्यसमाजी क्यों कहलाया जाय। उन लोगों के समाधान के लिये यहाँ पर आर्य्य और हिन्दू शब्द के विषय में कुछ कहना आवश्यक प्रतीत होता है। जो लोग अपने को हिन्दू कहते, आर्य्य नाम से घृणा अथवा उपेक्षा करते और आर्यों को चिढ़ाने के लिए उन्हें 'अरिया' आदि कहते वे नितान्त भूले हुए हैं और अपनी दुर्दशा में आनन्द मनानेवाले हैं। इस देश का नाम 'आर्य्यावर्त्त' तो 'बाबाजी' पूजा पाठ पुरश्चरण आदि के संकल्प में पढ़ाते ही हैं और इस देश के निवासियों का नाम आर्य्य है तभी तो देश का नाम

आर्यों का आवर्त्त अर्थात् देश आर्य्यावर्त्त है। प्रसिद्ध भाष्यकार कुल्लूक भट्ट ने मनुस्मृति में आर्य्यावर्त्त शब्द पर निम्न प्रकार टीका की है–'यस्मिन् आर्य्याः आवर्त्तन्ते पुनः पुनरुद्भवन्ति इत्यार्य्यावर्त्तः' अर्थात् जिसमें आर्य्य बार-बार आते हैं, उत्पन्न होते हैं वह देश आर्य्यावर्त्त है। हिन्दुओं के प्रसिद्ध तीर्थस्थान काशी के विश्वनाथ के मन्दिर के द्वार पर भी एक लेख खुदा हुआ है जिसका अर्थ है कि 'आर्यों के सिवा दूसरे मन्दिर में प्रवेश न करें'। उसमें हिन्दू शब्द नहीं है इसे शिक्षित यात्रियों ने अवश्य देखा होगा। वेद भगवान् ने तो आर्य्य से इतर लोगों को दस्यु के नाम से पुकारा है– "बिजानीह्यार्य्यान्ये च दस्यवः" (ऋ-१-५१-८) अर्थात्— आर्य्यों से अन्य को दस्यु जानो। वाल्मीकि रामायण में राम को आर्य्य कहा है—

सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः।
आर्य्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः॥

अर्थात् जैसे समुद्र नदियों से सेवित होता है उसी प्रकार राम सत्पुरुषों से सेवित रहते थे। समदर्शी, सुन्दर और 'आर्य्य' थे।

उसी प्रकार दशरथ के सम्बन्ध में राम सुमन्त्र से कहते है—

अदृष्टदुःखं राजानं बृद्धमार्य्यम् जितेन्द्रियम्।
ब्रूयात्त्वमभिवाद्यैव मम हेतोरिदं वच॥—अयोध्या

अर्थात्—जिसने दुःख नहीं देखे ऐसे वृद्ध, जितेन्द्रिय आर्य राजा को मेरी ओर से यह बचन कहना। प्रमाणों के ढेर लगाये जा सकते हैं। तात्पर्य्य यह कि किसी भी प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ में हिन्दू शब्द का प्रयोग देखने में नहीं आता। प्रायः आर्य्य शब्द का ही प्रयोग हुआ है।

आर्य्य शब्द व्याकरण से 'ॠ' धातु (गमनार्थक अर्थात्—ज्ञान गमन प्राप्ति का द्योतक) से ण्यत् प्रत्यय करने से बनता है। इसलिये व्युत्पत्ति के अनुसार इसका अर्थ होता है वह जो कि ज्ञान से युक्त है, ज्ञान के अनुसार ही आचरण करनेवाला है और जिसे इच्छित वस्तुएँ प्राप्त हैं अथवा जो जानने, सेवन किये किंवा प्राप्त किये जाने के योग्य है। किसी विद्वान ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—

कर्त्तव्यमाचरन् कर्म्माकर्त्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्रकृताचारे सवै आर्य्य इतिस्मृतः॥

अर्थ जो कर्तव्य कर्म को ही करता है और सदाचार में ही वर्तमान रहता है उसी को आर्य्य कहते हैं।

वैदिक कोष निरुक्त में "आर्य्यः ईश्वर पुत्रः" कहा गया है अर्थात् आर्य्य ईश्वर का पुत्र है।

हिन्दू शब्द फारसी भाषा का शब्द है, किसी प्राचीन कोश में यह शब्द नहीं पाया जाता। फारसी के कोशों में हिन्दू शब्द का अर्थ चोर, डाकू, गुलाम, काफ़िर, काला

इत्यादि किया गया है और इन्हीं अर्थों में फारसी के कवियों ने भी शब्द का व्यवहार किया है—यथा

अगर आं तुर्क शीराज़ी वदस्त आरद दिलेमारा।
वखाले हिन्दु अश वख्शम समरकन्दो बुखारारा॥

अर्थात्—अगर शीराजा का वह तुर्क मेरे दिल अर्थात् प्रेयसी को हाथ में लावे तो मैं उसके हिन्दू (काले) खाल (तिल) पर समरकन्द और बोख़ारा को वख्श दूँ।

दो हिन्दुये अज़ पस संग सर वरावरदन्द। गुलिस्तां

अर्थात्—दो हिन्दू (डाकू) एक पत्थर के पीछे से निकले।

इस विषय के अधिक उदाहरण देखने हों तो पं० लेखराम के लेख 'आर्य्य हिन्दू नमस्ते का अनुसन्धान' में देखिये। विधर्मियों ने द्वेप से हमारा नाम हिन्दू रखा है। हिन्दू शब्द के पक्षपाती एवं भाषा विज्ञान (Philology) के अभिमानी इस बात की चेष्टा किया करते हैं कि हिन्दू शब्द फारसी वाले बुरे अर्थ से युक्त नहीं है परन्तु इस शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत से है। हिन्दू हीन दोप इन शब्दों से बना है। कोई कहते हैं नहीं यह सिन्धु का अपभ्रंश है इत्यादि। तोड़-मरोड़ कर अर्थ निकाल लेने का तो अपना अधिकार है। संस्कृत में शब्दों को कामधेनु कहा है और ऐसे लोग भी सुने गये है जिन्होंने मियाँ शब्द तक की व्युत्पत्ति (derivation) संस्कृत से निकाली है। उन विद्वानों से हमारी बहस नहीं है। उनसे हम इतना

ही कहेंगे कि इस शब्द को हमारे ऋषियों, आचार्य्यों एवं ग्रन्थ कर्त्ताओं ने संस्कृत के ग्रन्थों में व्यवहृत नहीं किया अतएव हमारा नाम कदापि हिन्दू नहीं है।

अतएव ऋषि दयानन्द ने हमारा यथार्थ नाम हमें बतलाया।

हमें उनका उपकार मानकर अपना नाम सुधार लेना चाहिये नहीं तो हमारी दशा उसी पुरुष के सदृश होगी जो शत्रुओं द्वारा अपने मुखपर काली पोते जाने पर उसे पोंछता नहीं और उसके लिये रंज न मानकर उल्टे आनन्द मनाता और कालिख पोंछ लो ऐसा कहने वाले को गालियां देता और चिढ़ाता है।

२

हम आर्य्य तो अवश्य हैं, पर आर्य्यसमाजी नहीं हैं।

कुछ लोग ऐसे भी हैं जो आर्य्यसमाज द्वारा आर्य्य नाम की व्याख्या की जाने पर अपने को आर्य्य कहने में कुण्ठित नहीं होते। वे कहते हैं कि हिन्दुओं का यथार्थ नाम आर्य्य है और हम आर्य्य हैं परन्तु हम आर्य्यसमाजी नहीं हैं। हमें समाज से क्या सरोकार? आर्य्यसमाज तो स्वामी दयानन्द की मन गढ़न्त है। हम किसी समाज में नहीं पड़ना चाहते हैं इत्यादि।

यहां पर आवश्यक है कि वैसे लोगों के लिये समाज क्या

है, इसकी क्या उपयोगिता है, इसका विवेचन संक्षेप में किया जावे।

मनुष्य मात्र के लिये समाज इतना आवश्यक किंवा अनिवार्य है कि विद्वानों ने तो मनुष्य को सामाजिक जीव (Social being) कहा है। समाज के बिना मनुष्य का जीवन नितान्त नीरस और निरानन्द है। यही कारण है कि संसार के दण्ड विधान में मनुष्य की जीवितावस्था के लिये सब से बड़ा दण्ड निर्वासन (Transportation) ही माना गया। जेलखानों में जब कैदी कोई भारी अपराध करते हैं तो उनको एकान्त वास (Solitary confinement) का दण्ड दिया जाता है और जो कैदी जेल की चक्की चलाने में नहीं डरता, हाथ पैर की जंजीर और बेड़ियों से नहीं घबराता, बेत लगने पर भी नहीं कातर होता, उसी वज्र हृदय बन्दी की होश एकान्तवास के दण्ड से ठिकाने आ जाती है। इसमें क्या रहस्य है इस पर विचार करने से ही समाज की महिमा विदित हो जायगी। निर्वासन में अथवा एकान्तवास में मनुष्य अपने समाज से प्रृथक् कर दिया जाता है और समाज से पृथक् रहना ही उसके दुःख का कारण है। इसी पर इन दण्डों की कठोरता निर्धारित है।

मनुष्य अकेले रहने से घबराता है यही एक कारण समाज की उपयोगिता का नहीं है बल्कि समाज मनुष्य जाति की सभ्यता के विकास का कारण भी है। किसी जाति की उन्नति

पूर्णतः तब तक नहीं हो सकती जब तक उसका समाज पूर्ण संगठित न हो। किसी एक मनुष्य के लिए यह संभव नहीं है कि वह सब काम अपने से कर सके। मनुष्य को जितनी वस्तुओं की आवश्यकता संसार में होती है उतनी की पूर्त्ति एक मनुष्य अकेले नहीं कर सकता। विचार कीजिये, यदि एक मनुष्य को अपने से ही रूई उपजानी पड़े, अपने ही वह सूत काते अपने ही कपड़े बुने, कपड़े बुनने के सामान भी अपने ही बनावे, सूई डोरा सभी अपने ही से बनाकर अपने पहनने के लिये अपने ही से कपड़े सिये, अपने ही साबुन बनाकर अपने ही कपड़े साफ करे तो वस्त्र मात्र का प्रश्न भी हल न कर सके। फिर उसे कुर्सी टेबुल की जरूरत है, पलंग, छाता एवं जूते चाहिये सभी अपने ही से बनावे तो क्या कभी संभव है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण कर सके? समय अथवा सामर्थ्य के अभाव से वह किसी प्रकार भोजन का ही प्रबन्ध करेगा। क्योंकि सब से प्रधान आवश्यकता वही है दूसरी आवश्यकताओं की ओर वह कदापि दृष्टिपात नहीं कर सकेगा। ज्ञान, विद्या, सभ्यता इत्यादि के विकास से वंचित रह कर पशु तुल्य बन वह अपना मनुष्य जन्म खोवेगा। इसलिये परमात्मा ने समाज की व्यवस्था मनुष्यों के लिये बतलाई और गुण-कर्म्म-स्वभाव से मनुष्य समाज को चार अंगों में बांटा—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। जो विद्या ज्ञानादि उपार्ज्जन कर सके वे विचार ज्ञानादि से ही दूसरे का उपकार करें। दूसरे लोग औरों की

रक्षा का ही भार लेवें। जो खेती-बारी आदि कर सकें वे अपना समय उसी में लगावें और अपना तथा दूसरों के भोजन का ही प्रबन्ध कर देवें। जो जूते अच्छे बना सकें वे जूते ही बनावें और उनकी रक्षा एवं उनके भोजन तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति दूसरे कर देवें। कोई सबके कपड़े ही धो देवें। इस प्रकार की सुव्यवस्था से किसी एक पुरुष के ऊपर अधिक भार न पड़ने से विद्या, कला, विज्ञान की पर्याप्त उन्नति होकर संसार का कल्याण साधित होता है। यह सामाजिक जीवन की दूसरी महत्ता है। लोग कहेंगे अच्छी बात। समाज की उपकारिता तो हम समझ गये परन्तु हिन्दू समाज तो है ही, मनुष्य की जो आवश्यकताएँ तुम बताते हो हिन्दू-समाज से भी पूरी होती है, तो फिर हम आर्य्यसमाजी क्यों बनें ? हम कहते हैं कि आप आर्य्य होना तो स्वीकार पहले ही कर चुके और अब समाज की उपयोगिता भी आपने स्वीकार कर ही ली तब तो आप स्वयमेव आर्य्यसमाजी बन ही गये, आपका दूसरा समाज रहा ही कौन ? जो लोग यह कहते हैं कि जो सुधार की बातें हैं हिन्दू समाज से ही करो अपने को अलग क्यों बनाते हो उनसे हमारा निवेदन है कि ये सुधार की बातें बतावेगा कौन ? यदि कहे कि जिसे सुधार का ज्ञान होवे तो हम कहते हैं कि वैसे सुधारक यदि सामूहिक और संगठित रूप से प्रचार करें तो वह व्यक्तिगत प्रचार से अच्छा होगा या बुरा ? इसका उत्तर सिवा अच्छा के आप और कुछ दे ही नहीं सकते, क्योंकि संगठन

के बल से इन्कार करेंगे तो आप कहीं के नहीं रहेंगे और जिस समाज के अन्दर मनुष्य मनमानी रीति से अढ़ाइ चावल की खिचड़ी अपनी-अपनी अलग पकाते हैं उससे एक सुसंगठित और सर्व सम्मत समाज अवश्य अधिक उपकारी है। देखिये वेद क्या कहते हैं—

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचितमेषाम्
समानं मन्त्रमभि मंत्रयेवः समानेन वोह विषा जुहोमि।

अर्थात् तुम्हारा मन का विचार एक हो, तुम्हारी सभा एक अथवा एक जैसी हो, मन और चित एक जैसे हों, मैं (ईश्वर) तुम सबको एक ही विचार से युक्त करता हूँ और एक प्रकार का अन्न और उपभोग देता हूँ।

एक जैसे विचारवाले पुरुषों का समाज नहीं होने से मनुष्य का सामाजिक जीवन कदापि सुखकर नहीं हो सकता। इस पर अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। जिस समाज में मनुष्य रहता है उसमें यदि एक विचारवाले पुरुष न हों तो कोई मनुष्य अपने सिद्धान्तों का पालन नहीं कर सकता। यदि किसी पुरुष का सिद्धान्त हो कि सोलह वर्ष से कम उम्र में लड़की का विवाह नहीं करना चाहिये और वह रहता है उस समाज में जिसमें दश वर्ष से अधिक अवस्थावाली कुमारी लड़की के पिता, माता, भ्राता को पातकी और नरकगामी बतलाया जाता है तो क्या यह सम्भव है कि वह पुरुष अपनी कन्या का विवाह

सोलह वर्ष वा अधिक की अवस्था में करके अपने सिद्धान्तानुकूल चल सके। यही कारण है कि छूआछूत, जातपांत श्राद्ध आदि के अवैदिक उलझनों से अधिक आर्य्यसमाजी अबतक मुक्त नहीं हो सके हैं। इन सब कारणों से नितान्त आवश्यक है कि आर्य्य सिद्धान्तों के पालनेवाले पुरुषों का एक सुदृढ़ संगठन किया जाय अथवा दूसरे शब्दों में आर्यसमाज को सुदृड़ रूप से संगठित किया जाय। और सबसे मोटी बात तो यह है कि जिसने अपने नाम का भी सुधार नहीं किया वह दूसरी सुधार ही क्या करेगा? मानी हुई बात है कि बुरे नाम से बुरे ही संस्कार बैठते हैं। शब्द के अन्दर विचित्र जादू है। आर्य्य शब्द के उच्चारण से आर्य्य-ऋषियों और महापुरुषों का गौरव पूर्णरूप से हमारे अन्दर अपूर्व उत्साह और स्फूर्ति ला देता है। हमारा मस्तक गर्व से उन्नत हो जाता है कि हम उन आर्य्यों के ही वंशधर हैं जिनका संसार पर एक छत्र राज्य था जो विद्या-विज्ञान-सदाचार में संसार के गुरु थे। हिन्दू शब्द से कौन सा आदर्श हमारे सामने आवेगा। अपने नाम की लज्जा रखने की इच्छा से अपने को हिन्दू कहते हुए हम क्या करेंगे। आर्य्य नाम से आर्य्यत्त्व पालन के उत्तरदायित्व का विचार तो हमको उच्च से उच्च बना सकता है। इसलिये सुधारक का यह कर्त्तव्य है कि दूसरे के सुधार करने के पहले अपना एक प्रारम्भिक किन्तु नितान्त आवश्यक सुधार अर्थात् अपने नाम का सुधार कर लेवे। अपने को आर्य्यसमाजी कहे।

ऐसे लोग भी देखने में आते हैं जो कहते हैं कि आर्य्यसमाज बहुत ठीक कर रहा है। आर्य समाजी ही हम भी हैं परन्तु अपने को आर्य्य समाजी क्यों कहें ? आर्य्य समाजी कहने से लोग भड़क जाते हैं, अपने आपको आप से अलग समझने लगते हैं और आपकी बात सुनने को प्रस्तुत नहीं होते इसलिये क्यों व्यर्थ अपने को आर्य्य समाजी कहें ? इत्यादि ऐसे लोगों की संख्या कुछ बढ़ती ही नजर आती है। विचार उनका प्रशंसनीय है अवश्य पर दोष से सर्वथा खाली नहीं है। ऐसे पुरुष सत्य को छिपाने वाले तो अवश्य हैं। हैं कुछ और, कहते हैं कुछ और ही और कार्य्य कुछ और ही प्रकार से करते हैं। यह सत्पुरुषों का लक्षण नहीं होता। "मनस्येकं वचस्येकं कर्म्मण्येकं महात्मनाम्" अर्थात् महात्माओं के मन, वचन और कर्म्म में एकता होती है। लोग नहीं सुनेंगे मत सुनें परन्तु स्मरण रहे "सत्यमेव जयते नानृतं, सत्येन पन्था विततो देवयानः" अर्थात् अन्त में विजय सत्य की ही होती है, सत्य से ही विद्वान का मार्ग विस्तृत होता है। यही अटल नियम है और सारे संसार के विरुद्ध हो जाने पर भी महर्षि दयानन्द इसी पर आरूढ़ रहे जिसके कारण आज संसार उनका लोहा मानने लगा है। अतः आर्य्यों को आर्य्य समाजी बनाकर ही सत्य का प्रचार करना उचित है। आर्य्य समाज का चतुर्थ नियम बताता है "सत्य ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वथा उद्यत रहना चाहिये"।

३

हम सनातन धर्म्म क्यों छोड़ें ?

हिन्दुओं की ओर से यह प्रश्न बराबर होता है और लोग इसका जिज्ञासु भाव से समाधान चाहते हैं कि हम सनातन धर्म्म क्यों छोड़ें ? अवश्य यह बड़ा युक्ति संगत प्रश्न है क्योंकि सनातन धर्म्म की बड़ी महिमा सत् शास्त्रों में गाई गयी है। यदि कोई सनातन धर्म्म छोड़ने को कहता है तो यह बड़ी बुरी बात है। उसका कहना कदापि धर्म्म-प्राण मनुष्य को नहीं मानना चाहिये यह तो हम भी कहते हैं।

अब विचारणीय यह है कि क्या आर्य्य समाज सनातन धर्म्म छोड़ने को कहता है ? इस पर विचार करने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि सनातन धर्म्म है क्या वस्तु। सना-

तन शब्द की व्युत्पत्ति पर जब हम ध्यान देते हैं तो मालूम होता है कि 'सदाभवः सनातनः' ऐसा व्याकरण बतलाता है जिसका अर्थ है जो सदा वर्तमान रहे उसी को सनातन कहते हैं। धर्म्म 'धृ' धातु से बनता है जिसका अर्थ धारण अथवा पोषण करना है इसलिये महाभारतकार ने कहा— "धारणात् धर्म्ममित्याहुः धर्म्मो धारयति प्रजाः"। धारण अथवा पोषण करने ही से धर्म कहलाता है क्योंकि धर्म्म मनुष्यों का धारण (पालन) करता है। इससे सिद्ध है कि जो सदा से है, आदि जिसकी नहीं है और जिसके मानने या जिसपर आचरण करने से सब प्रकार कल्याण ही कल्याण है उसको ही सनातन धर्म्म कहते हैं। जो थोड़े समय से है, जिस की आदि है वह सदा रहने वाला (सनातन) धर्म्म नहीं कहला सकता। आजकल सनातन किस को कहा जा रहा है ? पूछा जाता है कि सनातन धर्म्म क्या है तो लोग कहते हैं कि सनातन धर्म्म वही है जो पुराणों में वर्णित हैं। पुराण आधुनिक अनुसन्धान से निश्चित है कि एक हजार वर्ष से इधर के ही बने हैं। यदि पौराणिकों की ही बातें सत्य मानी जावें तो भी उनके कथनानुसार वे व्यास कृत होने से पांच हजार वर्ष से अधिक पूर्व के नहीं ठहरते। उनके पहले कौन धर्म शास्त्र थे तो कहा जा सकता है कि छः शास्त्र। पर वे शास्त्र भी सनातन नहीं हैं।

वेदान्त दर्शन के रचयिता महर्षि व्यास महाभारत के समय में आज से पांच हजार वर्ष पूर्व हुए। मीमांसाकार जैमिनि

महर्षि व्यास के शिष्य होने के कारण उनके समकालीन थे। मानना पड़ेगा कि उनसे पूर्व वेद ही थे। प्राचीन ऋषियों के अनुसार वेद परमात्मा का ज्ञान है और परमात्मा सनातन होने से उसका ज्ञान-वेद भी सनातन है। इसीलिये भगवान मनु ने कहा कि 'वेदोऽखिलो धर्म्म मूलम्' अर्थात् वेद समस्त धर्म्मों का मूल है। इसलिये उन्होंने धर्म्म के जिज्ञासुओं के लिये परम प्रमाण वेदों को ही बताया—

धर्म्मं जिज्ञाम मानानां प्रमार्णं परमं श्रुतिः। —मनु०

महाराज मनु का कथन कहां तक मान्य है इस विषय में सामवेद के ब्राह्मण ने कहा है 'यद् वै मनुरवदत्तद् भैषजं भैप जताया:' अर्थात् मनु ने जो कुछ कहा है वह औषधियों की औषधि है। किसी स्मृतिकार ने तो यहाँ तक कह दिया कि—

मन्वर्थं विपरीता या सा स्मृतिर्नैव शस्यते।

अर्थात्—मनु के लेख के विपरीत जो स्मृति है वह मानी नहीं जा सकती है। इससे मनु के कथनानुसार भी वेद ही सनातन धर्म्म को प्रतिपादन करनेवाले हैं। किसी हिन्दू को भी वेदों की प्रामाणिकता के विषय में सन्देह हो नहीं सकता और वेदोक्त धर्म्म के प्रचार के लिये ही आर्य्य समाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द ने प्राणों की बाजी लगायी। ऋषि ने कहा कि यदि कोई तुम से पूछे कि तुम्हारा धर्म्म क्या है तो तुम कहो कि हमारा धर्म्म वेद है। आर्य्य समाज का तीसरा नियम बतलाता है :—

"वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना, सुनना-सुनाना सब आर्य्यों का परम धर्म्म है।" वर्तमान समय की कुरितियों से पूर्ण रूढ़िवाद एवं स्वार्थियों और अज्ञानी वेद विरोधियों की कपोलकल्पनाओं से समाकुल मतविशेष ने जो अपना नाम सनातन धर्म्म रख लिया है उसका खंडन आर्य्य समाज तो अवश्य ही करता है और साहसपूर्वक करेगा। ऐसे मत का नाम सनातन धर्म्म तो ऐसा ही रूढ़ एवं निरर्थक है जैसे किसी जन्मान्ध का नाम नयनसुख अथवा दरिद्र का नाम धनपति किंवा मूर्ख का नाम विद्याधर है। यदि हम विद्याधर नामी मूर्ख की अविद्या का खण्डन करते हुए कहें कि विद्याधर बड़ा मूर्ख है तो क्या विद्वान हमारा विरोध करेंगे अथवा हमें विद्वानों का शत्रु बतावेंगे ? नहीं कदापि नहीं। उसी प्रकार नाम धारी सनातन धर्म्मियों के खण्डन से आर्य्य समाज सनातन धर्म्म का शत्रु कदापि नहीं कहा जा सकता। नामधारी सना-तनी वेद विरोधी होकर मनु भगवान के शब्दों में नास्तिक हैं क्योंकि 'नास्तिको वेद निन्दकः' ऐसी घोषणा महाराज मनु ने की है। आर्य्य समाज सनातन धर्म्म का प्रचारक किंवा पुनरुद्धारक है वह सनातन धर्म्म छोड़ने को कदापि नहीं कह सकता।

४

हम अपने बाप दादों का धर्म क्यों छोड़ें ?

यदि किसी कुरीति का खण्डन किया जाता है तो धर्मप्राण हिन्दू यह कह बैठते हैं कि यह हमारे बाप दादों के समय से होता आ रहा है हम इसे नहीं छोड़ सकते। क्या हमारे बाप दादे मूर्ख थे ? यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि बाप दादों के आचरणों का हमें अनुकरण करना चाहिये अथवा नहीं ? यदि चाहिये तो कहाँ तक ? वेद भगवान कहते हैं—'अनुव्रतः पितुः पुत्रः' अर्थात् पुत्र को पिता के अनुकूल व्रतवाला होना चाहिये। भगवान मनु ने भी कहा है—

> येनास्य पितरो याताः येन याताः पितामहाः।
> तेत यायात्सतां मार्गं तत्र गच्छन्नरिष्यते ॥ ४।१७२

भगवान् मनु ने इस श्लोक में स्पष्ट कर दिया है कि पिता पितामह के कर्म कहाँ तक अनुकरणीय हैं। उन्होंने बतलाया है कि जिस मार्ग से पिता पितामह चले हों उस मार्ग से चलना तो चाहिये परन्तु तभी चलना चाहिये जब कि वह मार्ग सतां अर्थात् सत्पुरुषों का मार्ग हो। यदि वह पिता पितामहों का मार्ग दुष्ट मार्ग हो तो उसका परित्याग अवश्य कर देना चाहिये। वेद की उपरलिखित श्रुति का भी यही तात्पर्य है। उसमें भो बतलाया है कि पुत्र को पिता के व्रत का अनुगामी होना चाहिये। व्रत का अर्थ सत्कार्य्य ही हो सकता है। असत् कर्म्म कदापि नहीं। इसी तथ्य को आचार्य्य ने अपने शिष्य को उपदेश करते हुए तैत्तिरीय उपनिषत् में समझाया है। माता पिता एवं आचार्य्य को आदर करने का आदेश देते हुए यह विचार कर कि बालकों में अपने माता पिता और गुरुओं की नकल करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, कहीं हमारे अवगुणों का भी अनुकरण न करने लग जावे। (क्योंकि मनुष्य सर्वथा निर्भ्रान्त अथवा दोष शून्य नहीं हो सकता) निम्न शब्दों में सतर्क कर दिया है—

"यान्यस्माक ँ सुचरितानितानि त्वयोपास्यानि न इतराणि"

अर्थात्—हम लोगों के जो अच्छे आचरण हैं उनका ही आचरण करना, बुरों का नहीं।

साधारण बुद्धि से भी यही बात ठीक जँचती है। यदि किसी का पिता दरिद्र और पुत्र धनवान् हो तो अपने पिता की

दरिद्रता के अभिमान से क्या वह अपना धन फेंक देगा ? किसी का पिता अन्धा हो तो पुत्र क्या अपनी आँख फोड़ डालेगा ? क्या कोई अपने पिता की देखादेखी आप भी जुआरी अथवा शराबी बन जायगा ? नहीं तो सिद्ध हुआ कि पिता के आचरण को धर्म्माधर्म्म की दृष्टि से विचार कर उसके धर्म का अनुकरण करना चाहिए अधर्म्म का नहीं।

आर्य्यसमाज ने धर्म में बुद्धिवाद को बड़ी प्रधानता दी है। भगवान वेद का यही उपदेश है। गायत्री मन्त्र में बुद्धि को भलीभांति प्रेरित करने के लिये परमात्मा से प्रार्थना करने का उपदेश है और मनु ने भी तर्क की बड़ी प्रतिष्ठा की है। कहा है—

यस्तर्केणानु संधत्ते स धर्म्मं वेदनेतरः।

अर्थात् जो तर्क से खोज करता है वही धर्म को जानता है दूसरा (अंध विश्वासी) नहीं। ऋषियों ने तर्क को श्रेष्ठ कहा है। संसार के आधुनिक विद्वानों का भी यही निश्चय हुआ है कि संसार का भावी धर्म वही होगा जिसमें बुद्धिवाद को (Reason को) उचित स्थान मिला है। संसार में एक भी धर्म या मत ऐसा नहीं जिसमें बुद्धि को स्थान हो। सभी कहते हैं विश्वास करो, ईमान लाओ, एक वैदिक धर्म ही ऐसा है जो कहता है कि बुद्धि की कसौटी पर जांच कर लो, यदि खरा जँचे मानो, खोटा जँचे छोड़ दो और इसीका प्रचार आर्य्यसमाज करता रहा है। अतएव वर्तमान विज्ञान के युग में आर्य्यसमाज ही

धर्म्म की रक्षा कर सकता है। वेदों के प्रचार नहीं होने से तो ईश्वर और धर्म्म के बहिष्कार की जो प्रचण्ड आंधी यूरोप में चली है वह मनुष्य को ईश्वर से परांमुख करके ही छोड़ेगी।

कोई बात चूँकि बहुत दिनों से चली आ रही है इसलिये वह अच्छी है ऐसा कहना सर्वथा भ्रमशून्य नहीं है। प्राचीनता अच्छाई का कोई अकाट्य प्रमाण नहीं है। उसे उचित कसौटी पर कस कर देखना चाहिए। यदि कोई रिवाज पुरानी है पर बुरी है तो कोई कारण नहीं कि उसका सुधार न किया जावे। यदि किसी का पुत्र बहुत दिनों से बीमार है तो क्या यह कहना युक्ति संगत है कि उसकी बीमारी बहुत दिनों से है अतः इलाज नहीं करना चाहिए, इलाज करने की सलाह देनेवाले पापी और धर्म्मद्रोही हैं।

इसी प्रकार कोई कुप्रथा यद्यपि बहुत दिनों से आ रही है परन्तु है वेद विरुद्ध, बुद्धि के विपरीत और युक्ति प्रमाण से शून्य और सर्वथा हानिकर तो उसे छोड़ कर वैदिक धर्म्म का ग्रहण करना ही सनातन धर्म्म के अनुकूल वर्तना कहा जायगा।

तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः।
क्षारं जलं का पुरुषाः पिबन्ति॥

बाप का खनाया कूंआ है ऐसा अभिमान कर खारा पानी पीते रहनेवाले कापुरुष और नीच ही हैं। इसमें धर्म्मात्मापन कुछ नहीं कहा जा सकता।

५

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः

अपने धर्म में मर जाना अच्छा है, पर-धर्म भयदायक है।

गीता के इस श्लोकार्ध का प्रमाण देकर बहुत से पण्डित आर्य्य समाज के प्रचार में अडंगा लगाते हैं। उनका कहना है कि जैसा धर्म हम मानते आ रहे हैं उसमें ही हम मर जांयगे सो ही उचित है। आर्य्यसमाज द्वारा प्रचारित वेद प्रतिपादित धर्म का हम ग्रहण नहीं करेंगे क्योंकि श्रीकृष्ण के शब्दों में वह धर्म भयावह है। इस पर भलीभाँति विचार करना समुचित है। क्या कृष्ण भगवान् धर्म में अन्धाधुन्धी से काम लेना चाहिए इसके प्रचारक थे? क्या बुद्धिपूर्वक विचार कर सत्य का ग्रहण

और असत्य का त्याग करना योग्य है, यह सिद्धान्त उनको मान्य नहीं था ? इसकी परीक्षा के लिये हम उस श्लोकार्द्ध का प्रथम आदि भी उद्धृत करते हैं। सारा श्लोक इस प्रकार है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ गीता ३।३५

इस श्लोक पर अपनी ओर से एक शब्द भी नहीं कह कर हम लोकमान्य तिलक के गीता रहस्य नामी ग्रन्थ में इस पर की हुई उनकी टीका और टिप्पणी उद्धृत कर देते हैं। "पराये धर्म का आचरण सुख से करते बने तो भी उसकी अपेक्षा अपना धर्म अर्थात् चातुर्वर्ण्य विहित कर्म ही अधिक श्रेयस्कर है, (फिर चाहे) वह विगुण अर्थात् सदोष भले हो। स्वधर्म के अनुसार (वर्तने में) मृत्यु हो जावे तो भी उसमें कल्याण है (परन्तु) पर धर्म भयंकर होता है।

स्वधर्म वह व्यवसाय है कि जो स्मृत्तिकारों ने चातुर्वर्ण्य अवस्था के अनुसार प्रत्येक मनुष्य के लिए शास्त्र द्वारा नियत कर दिया है, स्वधर्म का अर्थ मोक्ष धर्म नहीं है। सब लोगों के कल्याण के लिए ही गुण कर्म के विभाग से चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को शास्त्रकारों ने प्रशस्त कर दिया है। अतएव भगवान कहते हैं कि ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि ज्ञानी हो जाने पर भी अपना-अपना व्यवसाय करते रहें; इसी में उनका और समाज का कल्याण है, इस अवस्था में बारबार गड़बड़ करना योग्य नहीं है। 'तेली का काम तंबोली करें दैव न मारे आप मरे' इस

प्रचलित लोकोक्ति का भावार्थ भी यही है। जहाँ चातुर्वर्ण्य अवस्था का चलन नहीं है वहाँ भी सबको यही श्रेयस्कर जँचेगा कि जिसने सारी जिन्दगी फौजी महकमे में बिताई हो उसे यदि फिर काम पड़े तो उसको सिपाही का पेशा ही सुभीते का होगा न कि दर्जी का रोजगार। और यही न्याय चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के लिये भी उपयोगी है..................इत्यादि"

गीता रहस्य पृ० ५६५-५६६

गीता के १८ वें अध्याय में श्री कृष्ण ने कहा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्रों के कर्म स्वाभाविक गुणों से विभक्त है। श्लोक ४१ में सभी वर्णों के पृथक् गुण-कर्म-स्वभाव बतला कर कहा कि सभी अपने नियत कर्मों से ही परमात्मा की अर्चना कर सिद्धि पा सकते हैं। तदनन्तर यह श्लोक है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभाव नियतं कर्म्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्॥

यहाँ पर पूर्वार्द्ध उस तृतीय अध्याय के ३५ श्लोकवाला ही है और उत्तरार्द्ध में स्वधर्म की व्याख्या स्वयं श्री कृष्ण ने ही 'स्वभाव नियतं कर्म' इन शब्दों में कर दी है। अतएव यह आक्षेप कि श्री कृष्ण धार्मिक सुधार के विरुद्ध हैं कम से कम गीता में ऐसा ही है—एकदम निर्मूल सिद्ध होता है।

वास्तव में धर्म्म में सुधार के विरोधियों का अभिप्राय जिस धर्म से होता है वह धर्म अनेक नहीं है। वह सत्य है अतएव एक है। वृहदारण्यक उपनिषत में कहा है "यो वै सधर्म्मः सत्यम्

वै तत्" अर्थात् धर्म और सत्य एक ही हैं और जिस प्रकार प्रकाश से अन्धकार का नाश होता उसी प्रकार ज्ञान रूपी प्रकाश से असत्य पाखण्ड (अधर्म) रूपी अन्धकार का नाश होता ही है। ज्यों ज्यों ज्ञान बढ़ता है, सत्य धर्म का स्वरूप अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है। इसलिए असत्य पर डटे रहना धर्म नहीं हो सकता। यदि धर्म के सम्बन्ध में जो कुछ लचर-पोच बातें किसी को मालूम हैं उसी पर लोग डटे रहें, यही धार्मिक सिद्धान्त कृष्णजी का होता तो श्री कृष्ण ने स्वयं क्यों इतनी सिर-पच्ची कर गीता का आध्यात्मवाद अर्जुन को बतलाया और अर्जुन के "स्वधर्म की लड़ाई में दादा, चाचा, मामा, साला, भाई, बेटा, कुटुम्ब, परिवार सबके सब मारे जांयगे इसलिये युद्ध करना उचित नहीं", छोड़ देने का उपदेश किया और छुड़वा ही दिया और 'पर धर्म (कृष्ण का धर्म) गीता प्रोक्त धर्म को ग्रहण करवा दिया ? मनुष्य को जब विना सिखाये अक्षर तक का बोध नहीं हो सकता, बोलना तक नहीं आता तो बिना धर्म प्रचारकों, उपदेशकों गुरुओं और आचार्य्यों के उपदेश से धर्म का ज्ञान कैसे हो सकता है ? धर्म इत्यादि विद्या सम्बन्धी बातें बिना जाने सुने नहीं प्राप्त होती हैं। यह अपनी और दूसरे की नहीं होती है। जो विद्वान है उनकी ही होती हैं और दूसरों की तब होती जब विद्वानों से सीख कर ग्रहण कर ली जावें। इसलिए दर्शनकार ने अच्छा कहा है—
'उपदेश्यो पदेष्टृत्वात् तत्सिद्धिः। इतरथा अन्ध परम्परा।'

अर्थात् विद्या विज्ञान आदि तभी सिद्ध होते जब अच्छे उपदेशक और श्रोता दोनो हों नहीं तो अज्ञान और अन्ध-परम्परा चलती है।

इसलिए गीता के उस श्लोकार्द्ध का यह अर्थ लगाना कि धार्म्मिक मामलों में अपनी जटल काफिया पर ही मर मिटना, बुद्धि से काम न लेकर जो कुछ कुसंस्कार, अन्ध-विश्वास धर्म्मा भास के रूप में हृदय में जमकर बैठ गये हों उनको ही धरे रहना, पुरानी लकीर के फकीर बने रहना ही श्रेयस्कर है और दूसरे अच्छे समझदार लोग जो कुछ भी अच्छी बात कहें उनको मरते दम तक न मानना ही उचित है—वह सरासर नादानी है।

हम जब एक पैसे की हांडी खरीदने में ठगे जाते हैं तो हमारी इच्छा उसको फिर से बदल कर अच्छी हांडी लेने की होती है, तब उस सौदे के करने में जो कि हांडी जैसी दो-चार दिन के लिए नहीं दो-चार वर्ष नहीं—यह सारा जीवन नहीं—बल्कि सदा के लिए है--जन्म-जन्मान्तर के लिए है—हम इतनी असावधानी करें—हम यह परवा नहीं करें कि हम ठगे गये हैं वा नहीं, और यह मालूम होने पर भी कि हम ठगे गये हैं, हम कानों में तेल डालकर पड़े रहें इससे बढ़ कर और मूर्खता क्या होगी ? फिर हम को मनुष्य जन्म मिला ही क्यों ? मनुष्य जन्म तो यही सौदा करने को न मिला था ? धर्म्म का सौदा और किस जन्म में हम करेंगे ?

ऐसा सोच समझ कर यह अनमोल सौदा करने की चेता-

वनी हमको आर्य्य समाज दे रहा है। आर्य्य समाज ने हमारी धार्म्मिक परतन्त्रता—मजहवी गुलामी से हमको मुक्त कर दिया है। मजाहिवो ने—धर्म्म के ठेकेदारों ने जो हमारी बुद्धि पर ताला लगा दिया था, स्वामी दयानन्द ने उस ताले को तोड़ हमारी बुद्धि सर्वथा स्वतन्त्र कर दी है। अब हम धर्म्म का सौदा, जो कि हमारा सत्य सनातन अविनश्वर सौदा है, सोच समझ कर करें।

वह सौदा मिलेगा भी कहां? वेद का वह अक्षयरत्न-भाण्डागार हमारे आलस्य और प्रमाद से हमारी आंखों से ओझल हो गया था। स्वार्थी टुटपुंजिये मजहवी पंसारी एक-एक गांठ हलदी की लेकर सौदागर बने बैठे थे। सभी अपने खट्टे दही को मीठा कह कर खरीददारों को ठग रहे थे। परमात्मा की असीम कृपा से स्वामी दयानन्द का आविर्भाव हुआ। उन्होंने वेद का अक्षय-भण्डार सरे बाजार ला रख दिया है। अब भी यदि हम आर्य्य समाज की आढ़त में सच्चा सौदा नहीं करते, वैदिक रत्नराशि हम बिना मूल्य नहीं लेते तो अवश्य हमारे भाग्य फूटे हैं—हम पर विधाता वाम हैं।

६

सब धर्म अच्छे हैं किसी का खंडन नहीं करना चाहिए।

सब धर्म्म अच्छे हैं किसी का खण्डन नहीं करना चाहिए, ऐसी आवाजें भी बहुधा हुआ करती हैं। यहां तक कि कुरान वाले, जिन्होंने काफिरों की गरदनें मरोड़ने पर गाजी की उपाधि पाने के लिए ईमान वालों को प्रोत्साहित कर रखा है और अब भी कभी कभी होता है; और ईसाई लोग भी, जिनकी हजारों मिशनरियों द्वारा राम-कृष्ण-सीता इत्यादि के विषय में कुत्सित शब्द लिखित तथा मौखिक साधनों से प्रचारित किये जाते रहे हैं, जब आर्य्य समाज द्वारा अपने ढोंग ढोल की पोल खुलते

देखते तो घबरा कर कहने लग जाते हैं कि किसी का खण्डन नहीं करना चाहिये। हिन्दू धर्म्म के अन्दर हजार मतवादी भी, जो अपने से अतिरिक्त नौ सौ निंनानवे मतों की बुरे एवं द्वेषपूर्ण शब्दों में निन्दा करते हैं, आर्य्य समाज पर खण्डन के कारण आपत्ति करते हैं।

जो लोग यह कहते हैं कि सब धर्म अच्छे हैं किसी का खंडन नहीं करना चाहिए उनके इस कथन पर जब हम विचार करते हैं तो मालूम होता है कि उनके अभिप्राय में धर्म एक नहीं अनेक हैं और आर्य्यसमाज धर्म का खण्डन करता है। यथार्थ में ये दोनों ही बातें गलत हैं। जो धर्म यथार्थ अर्थों में धर्म हैं वह एक ही है अनेक नहीं और आर्य्यसमाज उन सत्य धर्म सिद्धान्तों का खण्डन कदापि नहीं करता।

जितने भी मतवादी अपने को अच्छा और दूसरों को बुरा बतलाते हैं उन सभों का भी उन सत्य धर्मों के विषय में एकमत अवश्य है; उन सहस्रोंमतवादियों की मण्डली में यदि जिज्ञासु खड़ा होकर पूछे कि कहिए सत्य भाषण में धर्म है या मिथ्या में तो एक स्वर से उत्तर मिलेगा कि सत्य भाषण में धर्म। और असत्य भाषण में अधर्म है। वैसे ही विद्या पढ़ने, ब्रह्मचर्य्य करने, पूर्ण युवावस्था में विवाह, सत्संग, पुरुषार्थ, सत्य व्यवहार में धर्म, अविद्या ग्रहण, ब्रह्मचर्य्य न करने, व्यभिचार करने, कुसंग, आलस्य, असत्य व्यवहार, छल, कपट हिंसा, परहानि करने आदि में अधर्म इसमें सभी एकमत होंगे।

पर स्वार्थवश इन सत्य धर्मों के प्रचार में वे संलग्न नहीं होते। अपनी जीविका चलाने के लिए, अपने चेले मूँड़ कर अपना दल बढ़ाने के लिये, अपनी पण्डिताई की धाक जमाने के लिए लोग अपने-अपने कपोलकल्पित मतों के ही प्रचार में लगे रहते हैं। वे समझते हैं कि यदि हम कोई नई बात नहीं कहेंगे तो हमें कोई क्यों पूछेगा। इसीलिए वाममार्गी कहता है कि दूसरे सब मतवाले नरकगामी हैं, जो मुक्ति चाहे उसे हमारा चेला बन भगवती को पूजना, मद्य-मांसादि पांच मकारों का सेवन और रुद्रयामल आदि चौंसठ तन्त्रों का मानना इत्यादि उचित है क्योंकि "कौलान् पर तरं नहि"। शैव कहता 'धिक् धिक् कपालं भस्म रुद्राक्ष हीनम्' बिना लिंगार्चन के मुक्ति नहीं' इत्यादि। वेदान्ती—हम धर्माधर्म कुछ नहीं मानते हम साक्षात् ब्रह्म हैं। यह जगत् सब मिथ्या और जो ज्ञानी शुद्ध चेतन हुआ चाहे तो अपने को ब्रह्म मान जीवभाव को छोड़े, नित्य मुक्त हो जायगा। जैनी कहते हैं, जिन धर्म के सिवा सब धर्म खोटे हैं। जगत् का कर्ता अनादि ईश्वर कोई नहीं।

यह जगत् सदा से है और सदा बना रहेगा। हम 'सम्यक्त्वी' अर्थात् सब प्रकार से अच्छे हैं इत्यादि। ईसाई कहता है—सब मनुष्य पापी हैं, अपने सामर्थ्य से पाप नहीं छूटता। बिना ईसा पर विश्वास के पवित्र होकर कोई मुक्ति नहीं पा सकता। ईश्वर का एकलौता बेटा ईसा ने सबके प्रायश्चित के लिये अपने प्राण देकर दया प्रकाशित की है। तू हमारा चेला हो

जा। मौलवी साहिब फरमाते हैं, लाशरीक खुदा उनके पैगम्बर और कुरान शरीफ के बिना माने कोई निजात पा नहीं सकता। जो इस मजहब को नहीं मानते वे दोजखी और काफिर हैं, वाजिबुल्कत्ल हैं। वैष्णव महाराज कहते हैं 'ऊर्द्ध पुण्ड्रविहीनस्य श्मशान सदृशं मुखम्' अर्थात् जिसके मुख पर वैष्णवी तिलक नहीं है उसका मुख श्मशान के सदृश है। हमारे तिलक छापे देखकर यमराज डरता है। (भला जब पुलिस के सिपाही, चोर डाकू, शत्रु यहां तक कि खटमल, मच्छर भी नहीं डरते तो न्यायाधीश यमराज के गण क्यों डरेंगे,)। इसी प्रकार कोई हमारा कबीर सच्चा, कोई नानक, कोई दादू, कोई बल्लभ, कोई सहजानन्द, कोई माधव इत्यादि को बड़ा और अवतार बतलाते हैं। यहां पर सत्य के जिज्ञासु बड़े चक्कर में पड़ते हैं, उनके मन में मुक्ति की लालसा से वितर्क उत्पन्न होता है कि इन मार्गों में से कोई मुक्ति का मार्ग है, अथवा मुक्ति के साधन इन सब बातों से पृथक है। एक के विरुद्ध नौ सौ निन्नानवे की गवाही होने से ये सभी झूठे ठहरते हैं। सत्य तो वे ही बातें अर्थात् सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य्य, सत्संग, पुरुषार्थ, सत्य व्यवहार आदि है जिनका उल्लेख ऊपर हुआ है, जिनकी सत्यता के विषय में सहस्रों का एक मत है। अतएव ये ही धर्म्म हैं। वेद धर्म्मों का प्रतिपादन करते हैं। धर्म्म व्यवसायी मतवादियों के पंजे से छुड़ा कर आर्य्य समाज मनुष्यों को इन्हीं पर चलने के लिए मार्ग बतलाता है।

रही बात खण्डन मंडन की। सो आर्य समाज सत्य का--धर्म का खण्डन करता ही नहीं।

खण्डन करता है मतवादियों के धर्म के नाम पर असत्य और अधर्म के प्रचार का। और मनुष्यता के नाते सभी सभ्य सज्जन सत्य प्रेमी विद्वान का यह परम कर्त्तव्य है भी। सत्य के मण्डन और असत्य के खण्डन में विद्वानों को कभी विमुख नहीं होना चाहिए। खण्डन-मण्डन से ही मनुष्य सत्य को प्राप्त कर सकता है। सत्य के गुण और असत्य के दोष जानकर ही मनुष्य सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग कर सकते हैं अन्यथा नहीं। खण्डन यदि न हो तो कभी धर्म, नीति, विद्या, सद्ज्ञान का प्रचार नहीं हो सकता। धर्म शास्त्र यदि अधर्म और अनीति का खण्डन नहीं तो और क्या है? धर्म शास्त्र कहते हैं ब्रह्महत्या, सुरापान, चोरी, गुरुपत्नी से व्यभिचार करने वाले महा पातकी हैं और इन कुकर्म करने वालों के साथ रहने वाले भी महापापी हैं। कितना कड़ा खण्डन किया है, सुरापान चोरी आदि करने वाले पुरुषों का महाराज मनु ने। अब यदि चोर और शराबी यह शिकायत जन साधारण में करे कि देखो महाराज मनु बड़े बेढब पुरुष हैं जिसके जी में जो आवे करे किसी का खण्डन क्या करना। मनुजी को ऐसा नहीं चाहिए था इत्यादि। तो क्या विद्वान मनु के विरुद्ध निर्णय करेंगे? एक मिडल परीक्षा पास गुरु अपने को बड़ा गणितज्ञ कहता है। बी० ए० का विद्यार्थी उससे त्रिकोणमिति का हिसाब बनवाता

है, गुरु अज्ञान से हिसाब गलत बनाता है। एक एम०ए० अध्यापक उस विद्यार्थी से कहता है कि गुरु—त्रिकोणमिति क्या जाने उसने झूठ-मूठ ही तुम को यह हिसाब बता दिया है। त्रिकोणमिति का हिसाब यों बनता है। तो क्या अध्यापक दोषी कहा जायगा कि वह खण्डन करने वाला है। माता अपने बच्चे की तुतलाहट का खण्डन कर शुद्ध उच्चारण बतलाती, पिता अपने पुत्र को अशिष्ट आचरण का खण्डन करके शिष्ट आचरण बतलाता, गुरु अपने शिष्य के अज्ञान का खण्डन कर ज्ञान का उपदेश देता, सूर्य्य अन्धकार का खण्डन कर प्रकाश फैलाता है। इस प्रकार खण्डन प्रति दिन होता ही रहता है और ये खण्डन करने वाले बुरे नहीं कहला कर खण्डन के लिये श्रेय ही पाते हैं।

एक बार एक पादरी ने मुझ से कहा कि आर्य्य समाज के काम destructive (अर्थात् खण्डनात्मक) होते हैं। constructive (रचनात्मक) नहीं। मैंने उनसे कहा कि आर्य्य समाजी के सारे प्रोग्राम रचनात्मक ही हैं। आर्य्य समाज संसार को आर्य्य बनाना चाहता है। यही इसका मुख्य उद्देश्य है और आर्य्य बनाना तो constructive (रचनात्मक) ही हुआ न ? आर्य्य समाज वेद अर्थात् सारी सत्य विद्याओं का प्रचार करना चाहता है। २८ गुरुकुल महाविद्यालय, ३०० संस्कृत पाठशालाएँ, ३ कन्या गुरुकुल, १० कालेज, २०० हाई स्कूल, ७०० कन्या पाठशाला, ३२२ अछूत पाठशाला इत्यादि

संस्थाओं में २० लाख रुपयों से अधिक प्रति वर्ष खर्च कर आर्य्य समाज ने कार्य्यात्मक रूप से विद्या प्रचार का—अपने Constructive (रचनात्मक) प्रोग्राम का--वह जीता जागता प्रमाण संसार के सामने पेश किया है जो आर्य्य समाजियों जैसे अल्प संख्यक सम्बन्धहीन व्यक्ति समुदाय के सम्बन्ध में संसार के भूत और वर्त्तमान में एक अद्वितीय घटना है। ३७ अनाथालय, ४१ विधवा आश्रम, ३० प्रेस, ५० समाचार पत्र, १०० सौ पुस्तक बिक्रेता और प्रकाशक इत्यादि संस्थाएँ आर्य्य समाज के कार्य्यात्मक रूप को संसार के सामने रख रही हैं। हाँ, लेकिन किसी भी इमारत को खड़ी करने के लिए यह आवश्यक होता है कि पहले उसकी नींव गहरी खोदी जावे। नींव खोदना destructive (खण्डनात्मक) कार्य्य है परन्तु जितनी दृढ़ और चिरस्थायी अट्टालिका हम बनाते हैं उतनी ही उसकी नींव की खुदाई अधिक की जाती है। और जमीन को बढ़िया इमारत के लायक बनाने के लिए वहां से कूड़े-कचड़े-मलवे (debris) की सफाई भी आवश्यक होती है। जीर्ण-शीर्ण भग्न खण्डहरों को तोड़-ताड़ कर मिसमार कर देना आवश्यक होता है पूर्व उसके कि एक मज़बूत इमारत बनाई जावे इसलिए बिना destructive (खण्डनात्मक) कार्य्य के Constructive कार्य्य करना बालू पर भीत बनाने की तरह निष्फल है। पादरी साहिब ने कहा—सो तो समझा, परन्तु आर्य्य समाज ज़्यादा destructive (खण्डनात्मक) कार्य्य ही करता है। मैंने उनसे

कहा कि १९३४ के भूकम्प के बाद मुंगेर में वर्षों मलवे को ही हटाया जाता रहा पश्चात मकान बने। अभी चूंकि संसार के अन्दर वेद विरोधी, स्वार्थी मतवादियों का बड़ा प्राबल्य हो रहा है इसलिए पहले तो उनको ही साफ करना है। छल, कपट, ढोंग, पोल सब का खण्डन करके उनका कच्चा चिट्ठा पहले जनता के सामने रखना आवश्यक है। जब उनसे घृणा हो जायगी और सत्य धर्म्म की जिज्ञासा लोगों के अन्दर जम जायगी तो सत्य का यथार्थ स्वरूप उनके सामने रखा जायगा। इसलिए आर्य्य समाजी सभी असत्य का खण्डन (destructive work) करता, सत्य के प्रचार में अड़चन डालने वालों की कुत्सित प्रगति को रोकता अर्थात् Destructive (विरोधात्मक) कार्य्य करता। इस प्रकार मार्ग को साफ कर Constructive (रचनात्मक) कार्य्य करेगा और ऐसा करना ही बुद्धिमानी है।

आधुनिक युग के महात्मा टाल्स्टाय, जिनको महात्मा गांधी ने गुरु तुल्य माना है लिखते हैं—"जीवन की वर्त्तमान बुराइयों का सुधार धर्म्म सम्बन्धी झूठे ख्यालों का खण्डन करने से, उनकी बुराई को खोल कर बताने से शुरू हो सकता है और धार्म्मिक सत्य की स्वतन्त्रतापूर्वक स्थापना करने से" (विश्वमित्र मासिक जनवरी १९३३ से उद्धृत)

सिद्ध हुआ कि खण्डन आवश्यक है। हां, यह द्वेषपूर्ण नहीं होना चाहिए, सत्य की जिज्ञासा और सत्य के प्रचार की इच्छा से प्रेरित होकर करना चाहिए और उसमें यथाशक्ति कटुता नहीं

आने देनी चाहिए। परन्तु "हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः" अर्थात् हित भी हो और मनोहर भी ऐसे वचन दुर्लभ हैं ऐसा किसी कवि का मत है और है भी बहुत अंशों में यथार्थ। ऐसी अवस्था में भगवान मनु कहते हैं कि—

प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्म्मः सनातनः।

अर्थात् किसी को प्रसन्न करने के लिए चिकनी-चुपड़ी झूठी बातें कदापि नहीं कहनी चाहिए यह सनातन धर्म्म है।

७

हम आर्य्य समाजी से भी बढ़े हुए हैं

वर्तमान युग में जब सुधार बाद का दौर दौरा है, बहुत से हमें यह कहते मिलते हैं कि हम आर्य्य समाजी से भी बढ़े हुए हैं। यहां पर हम यह दिखाने की कोशिश करेंगे कि आर्य्य समाजी से वेशी होकर कोई अपना वा संसार का कल्याण नहीं कर सकता है। आर्य्य समाज किसी व्यक्ति विशेष की मानी हुई बातों का प्रचार नहीं करता! वह तो धर्म्म का लक्षण "यतोऽभ्युदय निश्रेयसः सिद्धिः सधर्म्मः" अर्थात् जिससे सांसारिक सुखों के साथ साथ मोक्ष की प्राप्ति हो वही धर्म्म है ऐसा मानता है और वेद में परमात्मा ने मनुष्यमात्र के कल्याण के

लिए जो उपदेश दिये हैं उन्हीं का प्रचार करता है। वेद परमात्मा का ज्ञान होने से निर्भ्रान्त और स्वतः प्रमाण है। मनुष्य विशेष कैसा ही ज्ञानी क्यों न हो वह सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं हो सकता इसीलिए भगवान कृष्ण के शब्दों में "तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य व्यवस्थितौ" कार्य्य और अकार्य्य की अवस्था में शास्त्र ही प्रमाण हैं। शास्त्र की विधि को छोड़ कर मनमाना करने वाला पुरुष निंद्य समझा जाता है और गीता के शब्दों में उसके वैसे कार्य्य आसुरी हैं।

ऋषि दयानन्द ने इस कारण आर्य्य समाज की आधारशिला वेदों पर रखी। वास्तव में वेदों में ऐसे रत्न हैं जिन्हें पाकर हिन्दू जाति फिर भी अपने खोये हुए गौरव को प्राप्त कर सकती है। हमारे सत्य शोधक मित्र हमारे आर्य्य समाज पर संकुचित (Dogmatic) होने का दोषारोपण करते हैं और अपने को आर्य्य समाजी से बढ़ा हुआ इस कारण कहते हैं कि हमारी श्रद्धा वेदों पर है। उन्होंने स्वयं तो वेद देखे नहीं, क्रिस्तान विद्वानों के अज्ञान अथवा पक्षपात युक्त आक्षेपों का आश्रय लेकर वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानने में आपत्तियाँ करते हैं; परन्तु आर्य्य समाज तो उन्हें ऋषि दयानन्द जैसे प्रकाण्ड संस्कृतज्ञ के आधार पर अपौरुषेय मानता है। जो तपस्वी दयानन्द संकुचितता का विन्दु-विसर्ग को मिटाने वाले थे वे क्या स्वयं संकुचित विचार वाले थे? यदि दयानन्द अकेले ही इसे अपौरुषेय कहते तो कोई बात भी थी परन्तु हम देखते हैं कि कपिल, कणाद, गौतम,

जैमिनि, पतंजलि, व्यास, वाल्मीकि, मनु, राम, कृष्ण इत्यादि एवं सारे उपनिषत्कार भी इस विषय में एक मत हैं, तो हम अपने नव-शिक्षित मित्रों की बातों पर कैसे विश्वास करें ?

आर्य्य समाज तो वेदों के सोलह आने सत्य को बतलाता है। सोलह आने से पौने सोलह आने अनाचार और सवा सोलह आना अत्याचार हो जाता है और दोनों ही अवस्थाएँ भयावह हैं।

हिन्दू समाज में छूआ-छूत का बड़ा पचड़ा लगा हुआ है। जन्म जाति का ब्राह्मण कायस्थ या राजपूत के हाथ का बना हुआ भात नहीं खायगा। यहां तक कि सारस्वत ब्राह्मण कान्य-कुब्ज के हाथ का नहीं खायगा। मैथिल ब्राह्मण के अन्तर्गत श्रोत्रिय जाति के लोग जैवार का हाथ का नहीं खायँगे यह है अत्याचार! आर्य्य समाज कहता है भाई वेद का आदेश है "सभानी प्रपा सहवो अन्न भागः" तुम्हारे प्याऊ और भोज-नालय एक हों। और 'सहभक्षाः स्यामः' अर्थात् सहभोग अथवा मिलकर एक साथ खाना पीना हो। फिर क्यों तीन कनौजिया तेरह चूल्हा करते हो। जिसका भी आर्य्योचित आचरण है, जो मद्य मांस सेवन नहीं करता है और सफाई और पवित्रता का पूरा विचार रखते हुये भोजन बनाता है, उसके हाथ का वना हुआ खाने में तो कोई दोष नहीं है। पर कट्टरता से कुढ़े हुए हमारे वे युवक क्या करते हैं। वे कहते हैं कि हम आर्य्य समाजी से भी बढ़े हुए हैं।

आर्य्यसमाज में भी ढकोसला है कि एक थाली में दो या अधिक मनुष्य मत खाव लाओ सब कोई साथ ही खावें। भङ्गी म्लेच्छ आदि जो बनावें सब गटक कर जावें। एक बड़ी थाली में दाल भात सब कुछ रख कर पांच सात व्यक्ति मिल कर भोजन करते और उस प्रकार एक का उच्छिष्ट दूसरे खाते जो कि नितान्त वेद विरुद्ध और स्वास्थ्य के लिए अहितकर है। मनु महाराज तो कहते ही हैं 'नोच्छिष्टं कस्य चिद्द्यात्' अर्थात् जूठा किसी के किसी को नहीं देना चाहिये। वैज्ञानिक और सभ्य वर्तमान जातियों की ओर देखिये। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक से मैंने सुना कि अमेरिका निवासी यात्रा करने के समय भी अपने पास पानी पीने के लिये ग्लास अपना-अपना अलग रखते हैं, स्टेशनों पर भी पानीवालों से पानी लेकर अपने ही ग्लास में पीते। एक के ग्लास में दूसरा नहीं पीता। दूसरा उदाहरण।—वेदों ने मजदूरी के महत्त्व को बतलाया है। परन्तु आज हिन्दू जाति इसे नहीं मान कर दुर्दशाग्रस्त हो रही है। हिन्दुस्तान का तिहाई अंग (अर्थात् ७ करोड़) अछूत हो रहा है और समाज को निर्बल बना रहा है।

आर्य्यसमाज कहता है कि ये मजदूरी करते हैं, धर्म युक्त पुरुषार्थ कर अपनी जीविका उपार्जन करते हैं, इनसे घृणा मत करो, इन्हें अपना अंग समझो। यदि हिन्दू समाज की ऐसी मनोवृत्ति हो जावे तो निश्चय संसार का कल्याण हो। इस

मजदूरी के महत्त्व को वर्तमान रूसवालों ने सोलह आने से अधिक समझ लिया और हमारे मित्रों की तरह वे आर्य्य-समाज से बढ़ गये। क्या फल हुआ ? रूस के नेता आज घबराये हुए हैं। युवकों की ऐसी मनोवृत्ति हो गयी है कि विद्यालयों में अध्यापकों का स्थान रिक्त होता है तो कोई उसके लिए निवेदन पत्र देने को तय्यार नहीं होता। लोग मजदूरी के सिवा दूसरा काम पसन्द ही नहीं करते हैं। शिक्षा इत्यादि के कामों में अपना अपमान समझने लग गये हैं। ऐसी दशा रही तो विद्या, सुशिक्षा, सभ्यता इत्यादि का लोप होकर रूस का सर्वनाश होगा न ? ऐसे बहुत से दृष्टान्त दिये जा सकते हैं, अतः निवेदन है कि आर्य्यसमाज के ही पूरे सोलह आने सिद्धान्तों को मानिये। आप आर्य्यसमाजी से कम नहीं हैं यह तो बड़े आनन्द का विषय है पर कृपया आर्य्यसमाजी से बढ़ मत जाइये।

८

आर्य्यसमाजियों में भी बहुत बुराइयां हैं।

आये दिन यह शिकायत रहती है कि आर्य्य समाजी सिर्फ बोलते ही भर हैं अपने वैसा करते नहीं। उनमें भी बहुत सी बुराइयां है। फिर हम आर्य्य समाजी क्यों बने ? अस्तु हम यह अवश्य स्वीकार करेंगे कि बहुत से लोग अपने को आर्य्य समाजी कहते हैं परन्तु वास्तव में आर्य्य समाजी हैं नहीं और अपने आचरण से आर्य्य समाज को कलंकित करते हैं। ऐसे भी बहुत से लोग हैं जो अपने दुराचार के कारण अपने समाज की सहानुभूति शून्य दृष्टि से बचने के लिए अपने को आर्य्य समाजी कहने लगते हैं। कोई किसी विधवा से व्यभिचार कर लेता है, गर्भ रह जाने पर कहने लग जाता है कि हमने विधवा विवाह

किया है किंबा नियोग किया है हम आर्य्य समाजी हैं। कोई ऐसे भी हैं जिनका आर्य्यसमाज से कोई सम्बन्ध नहीं रहा और न उनके वेदानुकूल आचरण ही हैं परन्तु हां, विधवा विवाह के पक्ष में बोलते हैं अथवा छूतछात के विरुद्ध में बोलते हैं, पौराणिक कट्टरपन्थी उनको आर्य्यसमाजी कहने लग जाते हैं। आर्य्यसमाज उन सभी के कुकर्मों का कहां तक उत्तरदायी हो सकता है ? जबतक आर्य्यसमाज की आधार-शिला वेदों में, आर्य्यसमाज के नियमों और सिद्धान्तों में कोई आपत्तिजनक बातें दिखलाने में कोई सक्षम नहीं हो तबतक आर्य्यसमाज की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आ सकता। कोई मनुष्य यदि अपने को ईश्वर कहने लगे तो उस पुरुष की अल्पज्ञता एकदेशीयता, पक्षपात अल्प सामर्थ्य इत्यादि देख कर हम ईश्वर में अल्पज्ञता, एकदेशीयता आदि दोष लगाने के अधिकारी थोड़े ही हो सकते हैं। आर्य्यसमाज के अधिकांश सदस्य सदाचारी और त्यागी हैं अवश्य पर कोई मनुष्य जो मनुष्य है बुराइयों से खाली नहीं हो सकता इसीलिए तो आर्य्यसमाज किसी मनुष्य को निर्भ्रान्त नहीं मानता और वेदों की शरण लेने के लिए कहता है।

आप उन आर्य्यसमाजियों की त्रुटियों का अनुसरण न करें पर जब आर्य्यसमाज के सिद्धान्त दोषरहित हैं तो केवल उनके मानने वाले अमुक व्यक्ति में अमुक दोष है इसी जिद से सत्य सिद्धान्त से विमुख हो क्यों मनुष्य जन्म खोते हैं ?

हाँ, एक बात और भी है, आर्य्यसमाज आप (हिन्दू समाज) के प्रेम से आपका साथ छोड़ना नहीं चाहता। आर्य्यसमाजी जानते हैं कि वेदों में आपकी अटल श्रद्धा है परन्तु अविद्या से आप उनके यथार्थ अर्थों को नहीं जानते इसीलिये आप वैदिक सिद्धान्तों से पराङ्मुख हो रहे हैं। जब आप भली भांति इन सिद्धान्तों को समझ लेंगे तो आप उनके कामों में हाथ अवश्य बँटावेंगे इसलिए आपको छोड़ कर अलग होना उनको इष्ट नहीं। वह आपको भी अपने साथ ही ले चलना चाहता है। तभी तो मनुष्य गणना में जब सरकार चाहती है कि आर्य्यसमाजी लोगों को पृथक् कर दें तो ये अपने को हिन्दू लिखाते हैं। आपके संग से कुछ बुराइयां आपकी इनके पीछे अनिवार्य्य रूप में पड़ जाती है। इसे संकेत से समझ लेंगे अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं।

९

वैदिक धर्म की विशेषता

आर्यसमाज के ऊपर की गई विविध शंकाओं के उत्तर तो अब तक दिए जा चुके, अब निम्न पंक्तियों में वैदिक धर्म की कुछ खास विशेषताएँ बताई जाती हैं।

(१) पूर्व पृष्ठों के अवलोकन से यह तो स्पष्ट ही पता चला होगा कि आर्य्यसमाज सबसे पहले हमारा शुद्ध नाम हम को बतलाता है। हमारा नाम असल में हिन्दू नहीं। हिन्दू शब्द के अर्थ बहुत बुरे हैं, इसके अर्थ हैं चोर, गुलाम, काला, काफिर इत्यादि। यह फारसी भाषा का शब्द है और मुसलमानों ने

हमारा यह नाम द्वेष से रखा है। वेद, उपनिषद्, शास्त्र, स्मृति आदि प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में हिन्दू नाम हमारा कहीं नहीं लिखा है। आर्य्य शब्द का ही प्रयोग है। आर्य्य का अर्थ है श्रेष्ठ पुरुष, उन्नतिशील पुरुष आदि। राम-कृष्ण आदि सभी आर्य्य ही थे, हिन्दू नहीं थे। रामायण-महाभारत आदि के पढ़ने वाले लोग इसको भलीभांति जानते हैं।

(२) वैदिक धर्म्म की दूसरी विशेषता यह है कि यह हमको सच्चा धार्म्मिक पुरुष और धर्म्म से प्रेम करने वाला बनाता है। आज संसार में धर्म्म के नाम से लोगों को घृणा हो रही है। बहुत से समझदार लोग भी यह समझने लग गये हैं कि धर्म्म बुरी चीज है। यह लोगों को द्वेषी और अत्याचारी बनाता है। मनुष्य-मनुष्य में भेद-भाव, फूटफाट पैदा कर एक को दूसरे का शत्रु बनाकर मानव समाज का नाश कराता है। यदि हम आंखें खोलकर देखें तो पता चलेगा कि कौन से कुकर्म हैं जो आज धर्म्म के नाम पर नहीं होते हैं। धर्म्म के नामपर रक्तपात; धर्म्म के नामपर बेकसूर जीवों की हत्या; धर्म्म के नाम पर पाखण्ड, ढोंग और मूर्खता; धर्म्म के नामपर व्यभिचार, बाल-विवाह और बहु विवाह; धर्म्म के नामपर छल-कपट और धूर्तता; धर्म्म के नाम पर भाई के दुश्मन भाई इत्यादि ऐसे हजारों अनर्थ हो रहे हैं। आर्य्यसमाज बतलाता है कि इन सारे कुकर्म्मों के करने वाले लोग कभी धार्म्मिक नहीं कहे जा सकते। आर्य्यसमाज तो मानता है कि मनु महाराज के कथनानुसार

'धृतिः क्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । धीर्विद्या सत्यम क्रोधो दशकं धर्म्म लक्षणम ।'

अर्थात्—धर्म्म के दश लक्षण हैं धैर्य्य, क्षमा, मन को वश में रखना, दूसरे की चीज अन्याय से वा उसकी इच्छा के विरुद्ध नहीं लेना, बाहर भीतर की पवित्रता, इन्द्रियों को वश में रखना, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध अर्थात् क्रोध न करना। ये दशों लक्षण जहां नहीं मिलते वहां समझना चाहिये कि धर्म्म नहीं अधर्म्म का ही राज्य है।

(३) तीसरी विशेषता वैदिक धर्म्म की यह है कि यह धर्म्म उद्धार धर्म्म नहीं है। आर्य्य समाज यह नहीं बतलाता कि जो यहां दुःखी है वही स्वर्ग का दुख भोग सकता है। आर्य्यसमाज मनुष्य का परम लक्ष्य मुक्ति मानता है। मुक्ति कहते हैं दुःख से छूट जाने को। जो इस जीवन में दुःख से मुक्त न हुआ उसकी मुक्ति परलोक में क्या होगी। इस-लिए चुपचाप पुरुषार्थ छोड़ कर बैठ रहना और राम राम कहते रहना आर्य्यसमाज नहीं बतलाता। आर्य्यसमाज बत-लाता है कि लोग धन-सम्पत्ति, सुख-भोग, पुत्र-कलत्र सब को प्राप्त करें। हां, लेकिन यह भी नहीं कहता कि इन्द्रिय सुख में लिप्त हो जावे बल्कि सारे पदार्थों का भोग करते हुए उसमें ममता या अपनापन न जोड़ें। समझें कि ये पदार्थ परमात्मा के हैं, हम को केवल उपभोग या इस्तेमाल के लिए मिले हुए हैं। पर-मात्मा जब इन चीजों को हम से ले लेना चाहें तो हमको

आनन्द से उनको छोड़ देना चाहिए। ऐसे विचार से मनुष्य को दुःख कभी हो ही नहीं सकता।

(४) चौथी विशेषता यह है कि आर्य्यसमाज मनुष्य को सच्चा आस्तिक और ईश्वरपरायण बनना सिखलाता है। सृष्टि में मनुष्य बहुत अल्प सामर्थ्यवाला प्राणी है। अपने को बड़ा समझ कर अभिमान करने से कुछ लाभ नहीं बल्कि हानियाँ ही होती हैं। ऐसे मनुष्य पल-पल में ठोकरें खाते हैं और जैसे बिना कर्णधार के नाव भँवर में डूब जाती है वैसे ईश्वर के न माननेवाले पुरुषों की गति होती है।

इस पर भी अपनेको आस्तिक कहनेवाले लोग संसार में बहुत हैं पर वे वास्तव में किसी मनुष्य या मिट्टी या पत्थर आदि पदार्थों को पूजने में लगे हुए हैं। आर्य्यसमाज ईश्वर के स्थान में किसी मनुष्य की पूजा करना नहीं बतलाता। ईश्वर को अनेक या अपने असिस्टेण्ट से सहायता लेनेवाला नहीं मानता। ईश्वर को बेटे से याकिसी खास सलाहकार से सलाह लेनेवाला नहीं मानता।

आर्य्यसमाज ईश्वर को सर्व व्यापक मानता है। वह उसको किसी खास मन्दिर या शहर में बैठा हुआ नहीं मानता। वह उसको वैकुण्ठ, गोलोक, कैलास या चौथे या सातवें आसमान पर बैठा हुआ नहीं मानता। उसको सब जगह मौजूद जान कर कहीं कुकर्म्म या कुचेष्टा करने से डरने को सिखलाता है।

(५) पांचवीं विशेषता यह है कि आर्य्यसमाज का नियम बतलाता है कि प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से

सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए बल्कि सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये। आर्य्यसमाज दूसरे की उन्नति कहां तक चाहता है, देखिये, संसार का उपकार करना आर्य्यसमाज का परमधर्म है। यह नहीं कि केवल अपने पड़ोसी का या अपने मतवालों का ही। आर्य्यसमाज एक परोपकारी संस्था है और इसमें आने से लोग अपनी संकुचितता छोड़ कर संसार का उपकार कर सकेंगे। इस कारण सारे संसार की भलाई का मसला आर्य्यसमाजी बनने से हल हो जाता है।

(६) छठी विशेषता यह है कि आर्य्यसमाज स्वामी दयानन्द का कोई अपना सिद्धान्त नहीं बतलाता बल्कि वेदों का प्रचार चाहता है और करता है। जो वेद कि संसार में सबसे प्राचीन पुस्तक है, जो अनन्त ज्ञान की खान है, जिसको ईश्वरोक्त और ज्ञानिराशि सारे उपनिषत्कार, मनु महाराज, कपिल, कणाद, गौतम, व्यास, पतञ्जलि रामकृष्ण आदि ऋषि महर्षि और महापुरुष सृष्टि की आदि से मानते आये हैं।

(७) सातवीं, और अन्तिम विशेषता यह है कि आर्य्यसमाज धर्म्म के मामलों में बुद्धि से काम लेना बतलाता है। संसार के जितने भी मत और मतान्तर हैं वे सभी धर्म्म की बातों में तर्क करने वालों को नास्तिक, धर्म्मद्रोही, काफिर आदि बुरे शब्द कहते हैं। उनका सिद्धान्त होता है कि धर्म्म में अन्धविश्वास करना चाहिए। वे कहते हैं कि कोई बात धर्म्म इसलिए है कि उनकी धर्म्म पुस्तकें, उनके आचार्य्य ऐसा कहते

हैं। इसके विपरीत आर्य्य समाज महाराज मनु के इस सिद्धान्त का मानने वाला है कि—

यस्तर्केणानुसंधत्ते सधर्म्मं वेद नेतरः।

अर्थात् जो तर्क से—दलील से, खोज करता है वही धर्म्म को जान सकता है दूसरे नहीं।

इन्हीं सब कारणों से अपनी भलाई, साथ ही संसार के उपकार के लिए अन्धविश्वास, अत्याचार आदि से निकल आने के लिए आवश्यक है कि हम आर्य्य समाजी बनें और संसार को आर्य्य बनाएँ।

ओ३म् शम्